वै विषमयीमविद्यां विहाय ज्ञानसागरजां विद्याम्
सुधामेम्यात्मविद्यां नेच्छामि सृकृतजां भुवि द्याम्।।

अत्र भुवि अहम् आत्मवित् सुकृतजां याम् द्याम् न इच्छामि वै विषमयीम्
अविद्याम् विहाय "ज्ञानरागरजाम्" सुधाम् विद्याम् एमि।

चाहूँ कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी,
पीऊं सुधारस स्वकीय बनूँ न कामी।
पा "ज्ञानसागर" सुमंथन से सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या।।१००।।

अर्थ – हे भगवन् ! इस पृथिवीपर मैं निश्चय से पुण्योदय से प्राप्त होने वाले स्वर्ग को नहीं चाहता हूँ किन्तु विषरूप अविद्या को छोडकर ज्ञानरूप सागर (पक्ष में ज्ञानसार गुरु) में उत्पन्न आत्मविद्यारूपी सुधा को प्राप्त होता हूँ।

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहि ज्ञान
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान।।

रचना काल एवं स्थान परिचय

श्रीधरकेण चान्तेन केवलिना शुचिं गते।
सद्धक्षेत्रे सुरम्येऽत्र विख्याते कुण्डल गिरौ।।१।।

गुप्ति-ख-गति-संगेऽदो वीर संवत्सरे शुभे।।
श्रुतस्य पच्चमीमीत्वेतीमामितिं मितिं त्वितम् ।।

१ गुप्ति=३, ख=आकांश =०, गति–पंचम/ सिद्धगति=५, संग = आभ्यंतर एवं बाह्य परिग्रह = २,यानि ३०५२, अंकाना वीमतो ितः के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५०३ (विक्रम संवत् २०३२, शक् संवत् १८६७) की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी श्रुतपंचमी तिथि सोमवार २३ मई १६७७ ई. को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर महाराज के द्वारा श्री दिगम्बर जैन सिद्ध कुण्डलगिरी (कुण्डलपुर) दमोह (म.प्र.) में यह निरंजन शतक (संस्कृत) की रचना पूर्ण हुई।

मंगल कामना

विभावतः सुदूराणां सन्तति र्जयतात् सताम्।
द्यामेत्य पुनरागत्य स्वानुभूतेः शिवं व्रजेत्।।१।।
साधुना सा पदं ह्येतु भपतौ च जने जने।
गवि सर्वत्र शान्तिः स्यात् मदीया भावना सदा।।२।।
रेपतृत्तिं परित्यज्य ना नवनीतमार्दवम्।
णलाभाय भजेद् भव्यो भक्त्या साकं भृशं सदा।।३।।
विद्याब्धिना संशिष्येण ज्ञानोदधेरलङ्कृतम।
रसेनाध्यात्मपूर्णेन शतकं शिवदं शुभम्।।४।।
चित्ताकर्षि तथापि ज्ञैः पठनीयं विशोध्य तैः।
तं मन्ये पण्डितं योऽत्र गुणानवेषी भवेद् भवे।।५।।

साधव इह समाहितं नमन्ति सतां समाधृतसमा हितम् ।
कुर्वन् ह्रदि समाहितं तमहमपि वन्दे समाहितम् ।।

इह सतां हितं समाहितं समाधृतसमाः साधवः नमन्ति,
तं ह्रदि समाहितं कुर्वन् अहम् अपि वन्दे।

शोभे प्रभो परम पावन पा पदों को,
योगी करें नमन ये जिनके पदों को।
सौभाग्य मान उनको उर में बिठा लूँ,
साफल्यपूर्ण निज-जीवन को बना लूँ।।१।।

अर्थ– इस जगत् में जो सत्पुरुषों का हित करने वाले हैं, समाहित–युक्ति–आगम से सिद्ध हैं, तथा समाधिस्थ हैं–ध्यान निलीन हैं, उन अरहन्त परमेष्ठी को साम्यभाव के धारक साधु नमस्कार करते हैं। अतः उन्हें ह्रदय में धारण करता हुआ मैं भी नमस्कार करता हूँ – उनकी त्रिकाल वन्दना करता हूँ ।।१।।

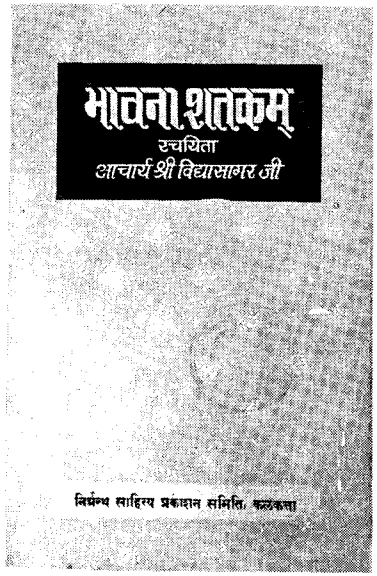

भावना शतकम्

सुधृतरत्नत्रयशरं गुरो ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम् ।
त्वां पीतानुभवशरं यजेऽमुं शमय मेऽनाश ! रम् ।।

हे गुरो! (ज्ञानसागर!) अनाश! सुधृतारत्नत्रयशरं ध्यानवसुविनष्टकुसुमशरम्,
पीतानुभवशरम् त्वाम् (अहं) यजे मे अमुं रं शमय।

ध्यानाग्नि से मदन को तुमने जलाया,
पीयूष स्वानुभव का निज को पिलाया।
धारा सुरत्नत्रयहार, अतः कृपालो
पूजूँ तुम्हें मम गुरो मद मेट डालो ।।२।।

अर्थ – हे गुरो ! हे ज्ञानसागर ! हे अनाश ! नाश अथवा आशा से रहित! रत्नत्रय रूपहार के धारक, ध्यानरूप अग्नि के द्वारा काम को नष्ट करने वाले और अनुभवरूपी जल का पान करने वाले आपकी मैं पूजा करता हूँ। आप मेरी इस कामाग्नि को शान्त कर – मुझे निष्काम बनने में सहायक हों।।२।।

भक्त्येप्सितास्त्रवारिर्मोहतमः प्रसारत्वादवारिः ।
धर्मवारिदां वारिमीडेऽनिच्छन् विषयवारि ।।

ईप्सितास्त्रवारिः मोहतम· प्रसारत्वाद् अवारिः (अहम्)
विषयवारि अनिच्छन् धर्मवारिदां वारिं भक्तया ईडे।

अन्धा विमोहतम में भटका फिरा हूँ,
कैसे प्रकाश बिन संवर भाव पाऊँ।
हे शारदे ! विनय से द्वय हाथ जोड़ूँ,
आलोक दे विषय को विष मान छोड़ूँ ।।३।।

अर्थ– जो सवंर का इच्छुक है तथा मोहरूपी तिमिर का प्रसार होने से नेत्रहीन है, ऐसा मैं विषय रूप जल की इच्छा न करता हुआ धर्मरूप जल को देने वाली सरस्वती की भक्तिपूर्वक स्तुति करता हूँ ।।३।।

विरतोऽकामहानये शतकं कामदं च कामहानये ।
नम्रः कामहानये वदेऽविद्कृतकामहानये ।।

अये अकामहा ! क ! नये विरतः, अविद्कृतकामहानये नम्रः सन्)
अमहान् (अहम्) कामदं शतकं च कामहानये वदे।

सम्मान मैं समय का करता कराता,
हूँ 'भावनाशतक' काव्य अहो ! बनाता।
मेरा प्रयोजन प्रभो ! कुछ और ना है,
जीतूँ विभाव भव को बस भावना है।।४।।

अर्थ– हे अकामहा ! पापरूपी रोग को नष्ट करने वाले ! हे क ! हे ब्रह्मन् ! जो नीति विज्ञान अथवा आगम में विरत –विशेषरूप से लीन है अथवा नीति विज्ञान से रहित है, अविद् – अज्ञानी है, काम का नाश करने वाले के लिये विनम्र है और अमहान्–लघु है, ऐसा मैं कामहानि –आत्मसम्बन्धी रागादि रोगों की हानि के लिये कामद–अभिलाषित पदार्थ को देने वाले भावनाशतक को कहता हूं ।।४।।

यतो जिनपददर्शनं तदस्त्विह दर्शनशुद्धं दर्शनम्।
दर्शयति सद्दर्शनं जगति जयतु जैनं दर्शनम् ।।

दर्शनशुद्धं दर्शनं तत् अस्तु यतो जिनपददर्शनं (भवति)
(इति) जैनं दर्शनं सद्दर्शनं दर्शयति (तत्) जगति इह जयतु।

आदर्श सादृश सुदर्शन शुद्धि प्यारी,
पाके जिसे जिन बने स्व-परोपकारी।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
साक्षात् भवाम्बुनिधि के यह भव्य सेतु ।।५।।

अर्थ– वह सम्यग्दर्शन दर्पण के समान निर्मल हो जिससे जिनपद – तीर्थंकरपद का दर्शन होता है। इस प्रकार जैनदर्शन–जैनशास्त्र सम्यग्दर्शन को दिखाता है– प्राप्ति कराता है। जगत् में वह सम्यग्दर्शन जयवंत रहे ।।५।।

मोहारेः पराभवे कषायादेरपि दृशा पराभवे ।
यन्ति नराः परा भवेऽस्त्यजवागितीदं परा भवे ।।

मोहरेः पराभवे (राति) दृशा कषायादेः–अपि पराभवे (सति) भवे
पराः नराः इदम् (दर्शनविशुद्धिं) यान्ति इति भवे परा अजवाक् अस्ति।

होता विनष्ट जब दर्शनमोह स्वामी,
जाती तथा वह अनन्त कषाय नामी ।
पाते इसे जन तभी जिन ! जैन जो हैं,
सद्भारती कह रही जनमीत जो हैं ।।६।।

अर्थ– मोहरूप शत्रु का पराभाव होने पर तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा कषाय आदि का भी पराभव होने पर संसार में श्रेष्ठता को प्राप्त हुए मनुष्य इस दर्शनविशुद्धि को प्राप्त होते हैं, ऐसी जिनेन्द्र भगवान् की उत्कृष्ट वाणी है ।।६।।

करुणाभाववसत्यां सद्भिरिदं सेवितायां वसत्याम् ।
लसतु मानव ! सत्यां वसतिपतिप्रभेव वसत्याम् ।।

वसत्यां सत्यां वसतिपतिप्रभा इव हे मानव !
सद्भिः सेवितायां वसत्यां करुणाभाववसत्यां (सत्यां) इदं (दर्शनं) लसतु।

जो अंग-अंग करुणारस से भरा है,
शोभायमान दृग से वह हो रहा है।
औचित्य है समझ में यत बात आती,
अत्युज्ज्वला शशिकला निशि में सुहाती ।।७।।

अर्थ– रात्रि होने पर जिस प्रकार चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है, उसी प्रकार हे मानव ! सत्पुरुषों के द्वारा चन्द्रमा की प्रभा सुशोभित होती है, उसी प्रकार है मानव ! सत्पुरुषों के द्वारा सेवित प्रवृत्ति में करुणाभाव की वसति–स्थिति होने पर यह सम्यग्दर्शन सुशोभित हो ।।७।।

वै
सुधा

अ

चाहूँ व
र
पा ''ज्ञ
f

अर्थ – हे भगवन्
हूँ किन्तु विषरूप
सुधा को प्राप्त हे

विराधनं न राधनं निदानमस्य केवलं नरा धनम्।
ददाति सदाराधनं राधनं मुक्तिदाराधनम् ।।

हे नराः ! निदानम् अस्य (दर्शनस्य) विराधनम्, (निदानं) केवलं धनं ददाति,
न राधनं (ददाति) (किन्तु) सदाराधनं मुक्तिदाराधनं राधनं च (ददाति)।

हो प्राप्त, स्वर्ग तक पुण्यविधान से भी,
होता न प्राप्त दृग शस्त निदान से भी ।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
लक्ष्मी अहो मृदुल हाथ तभी मिलाती ।।८।।

अर्थ– है मानवो ! निदान (भोगाभिलाषा) सम्यग्दर्शन का विघात करने वाला है। निदान, केव
धन देता है, संतोष नहीं देता, किन्तु सदाराधना–सत्पुरुषों की सेवा मुक्ति स्त्रीरुप पूर्णधन और संतो
को देता है ।।८।।

जितमोहहारकेण व्यालसता शुचिनयमणिहारकेण।
विना ह्यपि हारकेण प्राप्यते न व्यवहारकेण ।।

शुचिनयमणिहारकेण, व्यालसता, जितमोहहारकेण,
हारकेण बिना अपि इदं प्राप्यते (किन्तु) व्यवहारकेण न (प्राप्यते)।

र्जेय मोहरिपु को जिनने दबाया,
शुद्धोपयोग मणिहार गले सजाया।
ये साधु बोध बिन भी दृग शुद्धि पाते,
जा बाह्य में निरत हैं दुख ही उठाते ।।९।।

अर्थ– जिसमें निश्चयनय मणिमय हार है, जो सुशोभित है तथा जिसने मोहरूपी चोर को जीत लिया
है ऐसे हारक–विशिष्ट ज्ञान के बिना भी यह सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। किन्तु मात्र व्यवहारनय
से नहीं प्राप्त होता ।।९।।

दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः ।
भव्याब्जककदा वाशस्पर्शकोऽशुशुभाकरः ।।

(दर्शनं) दिव्यालोकप्रदानेशदर्शनशुद्धिभास्करः अंशुशुभाकरः,
अशस्पर्शकः, भव्याब्जककदाः (अस्ति)। वा निश्चये (न)।

आलोक दे सुजन को रवि से जगाती,
है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती।
है पापरूप तम को क्षण में मिटाती,
ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती?।।१०।।

अर्थ– केवल ज्ञान के प्रदान करने में समर्थ दर्शनविशुद्धिरूपी सूर्य, किरणों की शुभ खान है, अहिंसा से सुशोभित है, और भव्यजीव रूप कमलों को सुख देने वाला है,यह निश्चय है ।।१०।।

न मयाऽकं न नपावनं विनयो यियासुनार्च्यते पावनम्।
मुक्त्वा सुधीः पावनं कोऽटेद् ग्रीष्मार्त्तः पावनम् ।।

हे नप ! पावनं अवनं यियासुना मया विनयः अर्च्यते, न
अकं (अच्यते) कः सुधीः ग्रीष्मार्तः पावनं मुक्त्वा पावनं अटेत् (कोऽपि नेत्यर्थः)।

ना पाप को, विनय को शिर मैं नमाता,
हे वीर ! क्योंकि मुझको निज सौख्य भाता।
जो भी गया तपन तापतया-सताया,
क्या चाहता अनल को, तज नीर छाया?।।११।।

अर्थ– हे नप ! हे पूज्यरक्षक ! पवित्र रक्षण को प्राप्त करने के इच्छुक मेरे द्वारा विनय की पूजा की जाती है, अक – पाप की नहीं। कौन ऐसा विद्वान् है जो गरमी से पीड़ित होता हुआ पवन – वायु को छोड़ पवन–अग्नि को प्राप्त हो ? अर्थात् कोई नहीं ।।११।।

एतद्द्विषं साधनं जयश्रीरिवेनमूनसाधनम्।
ब्रजेन्नहि सत् साधनं फलति संसारेऽञ्जा धनम् ।।

एतद्द्विषं (विनयविहीनं) साधनं न ब्रजेत् ऊनसाधनम्
इनम् जयश्रीः इव। सत् साधनं हि संसारे अञ्जसा धनं फलति।

सेना विहीन नृप ज्यों जय को न पाता,
त्यों हीन जो विनय से शिव को न पाता।
सत् साधना यदि करे दुख भी टलेगा,
संसार में सहज से सुख भी मिलेगा।।१२।।

अर्थ– विनय से द्वेष करने वाले मनुष्य को साधन–सिद्धि उस प्रकार नहीं प्राप्त होती, जिस प्रकार कि ऊनसाधन – कम सेना वाले राजा को विजय लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती। उचित है, क्योंकि समीचीन साधन – उपाय ही यथार्थ रूप से धन को फलता है ।।१२।।

एतद्वहता गमितं ह्यनन्तान्तं पापं सम्यगमितम्।
स्वमूल्यं येन गमितं तस्मै कं किं नाङ्ग मितम् ।।

हे अङ्ग ! अनन्त ! न ! येन एतद्वहता (विनयशीलेन) स्वमूल्यं गमितं
अमितं पापं अन्तं गमितं (तदा) तस्मै मितं कं किं ? (किम पि नेत्यर्थः)।

निर्भीक हो विनय आयुध को सुधारा,
हे वीर ! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा।
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है,
क्या माँगता वह कभी जड़ संपदा है ।।१३।।

अर्थ– अङ्ग ! अनन्त ! न ! हे अन्तातीतजिनेन्द्र ! विनयसम्पन्नता को धारण करने वाले जिस मनुष्य ने स्वमूल्य–आत्ममूल्य को प्राप्त किया है, और अपरिमित पाप को अन्त किया है उसके लिये मित–सीमित–सांसारिक सुख क्या है? वह तो मोक्षसम्बन्धी अनन्तसुख का पात्र होता है ।।१३।।

स विनयशीलोऽकेन श्रितमहितमपि कुमार्गगं लोकेन ! ।
मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति लोके न ! ।।

हे लोकेन !न! अकेन श्रितं कुमार्गगं अहितं अपि लोके
विनयशीलः मुदा विदालोकेन स्वपथगं करोति।

वे व्यर्थ का नहिं घमण्ड कभी दिखाते,
सन्मार्ग को विनय से विनयी दिखाते।
पापी कुधी तक तभी भवतीर पाते,
विद्वान भी हृदय में जिनको बिठाते ।।१४।।

अर्थ– हे लोकेन ! हे जगत् के स्वामी जिनेन्द्र ! दुःख या पाप से युक्त कुमार्गगामी शत्रु को भी लोक में विनयशील मनुष्य हर्षपूर्वक ज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा सुपथगामी बना देता है। ।।१४।।

किं स्याद् भगवन्नमितं सुखमवनाविह बिना ह्यनेन मितम्।
वन्दे मुनिभिर्नमितं ततो विदांवरैर्मानमितम् ।।

हे भगवन् ! इह अवनौ अमितं (ना) मितं सुखं अनेन
विनयेन विना किं स्यात्? ततः विदांवरैः मुनिभिः मानं
इतं नमितं (च) (विनयपदं अहं) हि वन्दे।

संसार में विनय के बिन तू चलेगा,
आनन्द भी अमित औ मित क्यों मिलेगा।
योगी सुधी तक सदा इसका सहारा,
लेते अतः नमन हो इसको हमारा ।।१५।।

अर्थ– हे भगवन् ! इस पृथिवी पर अपरिमित और परिमितसुख क्या विनय के बिना हो सकता है? अर्थात् नहीं। इसी विनय के द्वारा ही ज्ञानी मुनियों ने सन्मान और नमस्कार को प्राप्त किया है ।।१५।।

एतद्द्विषः प्लवन्ते न भवार्णवं भयङ्करम्।
वान्तदोष भवं ते न भवाभवं न यन्त्यरम् ।।

हे वान्तदोष !न! भव! एतद्द्विषः (विनयरहिताः) भयङ्करं
भवार्णवम् न प्लवन्ते ततः) ते अभवं भवं न अरं यन्ति ।

विद्वेष जो विनय से करते कराते,
निर्भान्त वे नहिं भवोदधि तैर पाते ।
जाना उन्हें भव-भवान्तर क्यों न होगा,
ना मोक्ष का विभव संभव भव्य होगा ।।१६।।

अर्थ– हे वान्तदोष ! हे पूज्य ! हे कल्याणरूप ! विनयशीलता से द्वेष रखने वाले मनुष्य, भयंकर संसारसागर को नहीं तैर सकते। इसलिये वे अभवभव – जन्मरहित सिद्धपर्याय को शीघ्र नहीं प्राप्त होते ।।१६।।

वामवमिना ह्यमानं जगदकमनुभवति दंदह्यमानम्।
स हित्वाऽग्राह्यमानं जगादेत्यजः संगृह्य मानम् ।।

वामवमिना हि दंदह्यमानं अमानं जगद्अकं अनुभवति,
इति स अजः अग्राह्यमानं हित्वा मानं संगृह्य जगाद।

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखे जहाँ दुख भरा कुछ ना सहारा।
ऐसे जिनेश कहते, जग के विधाता,
जो काम मान मद त्याग बने प्रमाता ।।१७।।

अर्थ– 'कामरूप अग्नि से अत्यधिक जलता हुआ जगत् अपरिमित दुःख का अनुभव करता है' ऐसा उन जन्मातीत–जिनेन्द्र ने अग्राह्य – ग्रहण करने के आयोग्य मान को छोड़कर तथा ज्ञान का अच्छी तरह संग्रह कर कहा है ।।१७।।

संयमिभिर्महितेन शीलेन समं सुमते! मम हि तेन।
मतिरतिवाम ! हितेन त्वस्तु परं स्वधाम हि तेन।।

हे अतिवाम! सुमत! संयमिभिः महितेन हितेन तेन शीलेन
समं हि मम मतिः अस्तु। तेन (कारणेन) स्वधाम नु परं (अस्तु)।

पूजा गया मुनिगणों यति योगियों से,
त्यों शील, नीलमणि ज्यों जगभोगियों से।
सत् शील में सतत लीन अतः रहूँ मैं,
लो ! मोक्ष को निकट ही फलतः लखूँ मैं ।।१८।।

अर्थ– हे निष्काम ! हे सुमतिसंपन्न ! जिनेन्द्र ! संयमी साधुओं के द्वारा पूजित, हितकारी उस शीलव्रत के साथ ही मेरी बुद्धि रहे और इस कारण श्रेष्ठ स्वधाम–मोक्ष प्राप्त हो ।।१८।।

हिमांशुनाऽनि हिमेन ह्यलं गाङ्गेनाम्बुनाऽनि हिमेन।
वरोऽस्त्वस्यमहिमेन बाह्येतरदाहहा हि मे न ! ।।

हे!इनाऽन! हिमेन हिमांशुना अपि गाङ्गेनाम्बुना अपि हिमेन
अलं मे अस्य (शीलस्य) बाह्येतरदाहहा महिमा वरः अस्तु।

गंगाम्बु को न हिम को शशि को न चाहूँ,
चाहूँ न चन्दन कभी मन में न लाऊँ।
जो शीलझील मन की गरमी मिटाती,
डूबूँ वहाँ सहज शीतलता सुहाती ।।१९।।

अर्थ– हे स्वामिन् हे जिनेन्द्र ! बर्फ, चन्द्रमा, गंगाजल, और चन्दन की आवश्यकता नहीं है। इस शीलव्रत की बाह्य और आभ्यन्तर दाह को नष्ट करने वाली उत्कृष्ट महिमा ही मेरे पास रहे ।।१९।।

स्तुतानि ह्यङ्ग तानि व्रतानि यानि सता शुचितां गतानि।
अकानि सम्यगतानि त्यक्त्वा गतान्यनागतानि ।।

हे अङ्ग ! आगतानि अनागतानि गतानि च अकानि हि त्यक्त्वा
यानि साता स्तुतानि शुचितां गतानि व्रतानि तानि सम्यक् (अहं) अतानि।

मैं भूत भावि सब साम्प्रत पाप छोड़ूँ,
चारित्र संग झट चंचल चित्त जोड़ूँ।
सौभाग्य मान जिसको मुनि साधु त्यागी,
हैं पूजते नमन भी करते विरागी ।।२०।।

अर्थ– अङ्ग जिनेन्द्र ! आगत–वर्तमान, अनागत–भविष्यत् और गत–भूतकाल सम्बन्धी पापों को छोड़कर सत्पुरूषों के द्वारा स्तुत होते हुए जो शुचिता–निरतिचारवृत्ति को प्राप्त हुये हैं उन व्रतों को मैं प्राप्त होता हूं ।।२०।।

सा भातु गजगतितया सती नानेन संसृतिर्गतितया।
सिद्धः सदा गतितया सदागतिनोषा जगति तया।।

जगति गजगतितया सा सती भातु, गतितया संसृतिः (भातु) सिद्धः तथा गतितया (भातु)
सदागतिना उषा (भातु) अनेन (शीलेन व्रतेन वा) ना सदा (भातु)।

जैसे सती जगत में गजचाल हो तो,
शोभे उषा पवन मन्द सुगन्ध हो तो।
संसार शोभित रहे गतिचार होवें,
सर्वज्ञ सिद्ध सब वे गतिचार खोवें।
वैसा सुशीलव्रत संयमयोग सेरे !
होते सुशोभित सुधी, न हि भोग से रे ।।
सिद्धान्तपारग सभी गुरु यों बताते ,
सद्ध्यान में सतत जीवन हैं बिताते ।।२१।।

अर्थ– संसार में वह पतिव्रता स्त्री हाथी जैसी चाल से सुशोभित हो, संसार चतुर्गतियों से सुशोभित हो, सिद्ध परमेष्ठी प्रसिद्ध केवलज्ञान से अथवा अगतिता–गति राहित्य से सुशोभित हों, प्रातःकाल वायु से सुशोभित हो और मनुष्य इस शीलव्रत से सदा सुशोभित हो ।।२१।।

शीलरथो भयाऽऽरूढो वामोऽनेन भृशं स्वतः।
किल ह्यथो भयारूढो यमो येन स शं गतः ।।

अथो हि अनेन मया वामः शीलरथः आरूढ येन
स शं गतः यमः किल स्वतः भृशं भयारूढः (अवलोक्यते)

निर्भीक मैं बढ़ रहा शिव ओर स्वामी ,
आरूढ़ शीलरथ पै अतिशीघ्रगामी।
लो ! काल व्याल-विकराल-कुचाल वाला ,
है भीति से पड़ गया वह पूर्ण काला ।।२२।।

अर्थ– अब मैंने इस सुन्दर शीलरथ पर आरोहण किया है जिससे वह हिंसक यम स्वयं ही अत्यन्त भयभीत दिखाई देता है ।।२२।।

यथा कल्पते मदनता रसतो मदनाहितेन मदनः ।
मदोऽनलतोऽपि मदनः प्रज्ञानयोगात् कामद ! न ! ।।

हे कामद ! न ! यथा रसतः मदनता, मदनाहितेन मदनः, अनलतः मदनः,
कल्पते (तथा) प्रज्ञानयोगात् मदः अपि (कल्पते)।

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा,
है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा।
ज्यों काम देख शिव को दश प्राण खोता,
विज्ञान को निरख त्यों मद नष्ट होता ।।२३।।

अर्थ– हे मनोरथ को पूर्ण करने वाले जिनेन्द्र ! जिस प्रकार रसायन से धतूर की मादकता, कामवैरी के द्वारा काम, और अग्नि से मैन नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृष्ट–श्रेष्ठ ज्ञान के योग से मद–अहंकार नष्ट हो जाता है।।२३।।

कुसुदमथो वा मेन जलधिर्वामा यूनेव वामेन।
मुदमेति च वामेन ! मनोऽनेनोऽनेव वा मे न ! ।।

हे अनेनः ! वाम इन न मेन कुमुदं जलादिः वा वामेन यूना वामा इव
मे मनः च अनेन (ज्ञानोपयोगेन) मुदं एति

संयोग पा मदन भञ्जुल कान्त का वे,
जैसा नितान्त ललनाजन मोद पावे।
किंवा सुखी कुमुद वारिधि चन्द्र से हो,
वैसा मदीय मन मोदित ज्ञान से हो ।।२४।।

अर्थ– हे निष्पाप ! हे सुन्दर ! हे स्वामिन्। हे जिनेन्द्र ! जिस प्रकार चन्द्रमा से कुमुद अथवा समुद्र और सुन्दर युवक से स्त्री हर्ष को प्राप्त होती है उसी प्रकार मेरा मन इस अणीक्ष्णज्ञानोपयोग से हर्ष को प्राप्त हो ।।२४।।

मुनिषु मम विपाकस्य त्वं भव सखाग्निरिव भुवि पाकस्य।
यद् भवेद् विपाकस्य व्ययश्चायः सुखाविपाकस्य।।

भुवि पाकस्य सखा अग्निः इव मुनिषु विपाकस्य मम त्वं (ज्ञानोपयोगः) सखा भव।
यद् विपाकस्य व्ययः सुखविपाकस्य आयः च भवेत्।

ज्ञानोपयोग बन तू मम मित्र प्यारा,
ज्यों अग्नि का पवन मित्र बना उदारा।
पीड़ा मिटे, सुख मिले, भव-जेल छूटे,
धारा अपूर्व सुख की न कदापि टूटे ।।२५।।

अर्थ– पृथ्वी पर जिस प्रकार वायु का सखा अग्नि है; उसी प्रकार हे ज्ञानोपयोग! तुम मुझ अज्ञानी मुनि के सखा होओ, जिससे दुखःदायक कर्मोदय का विनाश और सुखदायक कर्मोदय की प्राप्ति हो ।।२५।।

महतां वराजराजः शिरसि यदूनोऽपि धृतराजराजः।
श्रितो मुनिराजराज स्यादजोऽनेन राजराजः ।।

मुनिराजराज! महतां वर अजर! शिरसि धृतराजराजः अपि यदूनः (ज्ञानोपयोगेन)
अजः (किन्तु) राजराजः अजः (कृष्णः) अनेन (ज्ञानोपयोगेन) श्रितः स्यात्।

स्वामी ! भले ही शिर पै शशि भा रहा हो,
विज्ञान से विकल शंकर ही रहा हो।
श्रीकृष्ण पाकर इसे कुछ ही दिनों में,
होंगे सुपूज्य यतियों मुनि सज्जनों में ।।२६।।

अर्थ– हे श्रेष्ठ मुनियों के नाथ! हे महापुरूषों में महान् ! हे जरारहित ! जिनेन्द्र ! शिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाला शिव भी जिससे रहित हो अज–छाग हुआ, किन्तु राजराजेश्वर कृष्ण इस ज्ञानोपयोग से सहित हो तीर्थंकर होगें।।२६।।

च ञ्चलचित्तसंवरं कलयति च कुरुतेऽयं विधिसंवरम्।
विमदमलीमसंवरं गता मुनय आहुः संवरम्।।

अयं (ज्ञानोपयोगः) विधिसंवरं कुरुते, चञ्चलचितसंवरं च कलयति (इति)
विमदमलीमसंवरं संवरं गता मुनयः आहुः।

ज्ञानोपयोग वर संवर साधता है,
चाञ्चल्यचित्त झट से यह रोकता है।
भाई निजानुभवियों यति नायकों ने,
ऐसा कहा सुन ! जिनेन्द्र उपासकों ने ।।२७।।

अर्थ– ज्ञानोपयोग, कर्मों के संवर को तथा चञ्चलचित्त के निरोध को करता हैं ऐसा मद रूपी मैल से रहित उत्कृष्ट संवर को प्राप्त मुनि कहते हैं ।।२७।।

ज्ञानरूपी करे दीपोऽमनोऽचलो यतेऽस्त्ययम्।
सन्नरूपी हरेऽपापो जिनोऽवलोक्यते स्वयम्।।

हे हरे ! अमनः ! अयं अचलः ज्ञानरूपी दीपः करे अस्ति (चेत्)
अपापः अरूपी सन् जिनः स्वयं अवलोक्यते।

जाज्वल्यमान न कदापि चलायमान,
हो ज्ञानदीप कर में यदि विद्यमान।
रूपी दिखे, पर पदार्थ सभी अरूपी
है स्पष्टरूप दिखते जिन चित्स्वरूपी ।।२८।।

अर्थ– हे हरे ! हे भावमन से रहित ! हे मनु ! यदि यह अविनाशी ज्ञानरूपी दीपक हाथ में है तो पापों से रहित एवं रूप से शून्य जिन, स्वयमेव दिखने लगता है।।२८।।

स ना भुवि नायकेन प्रभातु शरो ऽप्यजवाक् विनायकेन।
विरतो विनायकेन संवेगेन विनाऽयकेन।।

हे विन!अयक!इन!न! भुवि नायकेन शरः विनायकेन अजवाक् अपि प्रभातु।
विनायके विरतः स ना संवेगेन (प्रभातु)।

माला सुमेरूमणि से जिस भाँति भाती,
वाणी गणेश मुख से जिनकी सुहाती।
संवेग से मनुज भी उस भाँति भाता,
जो है सदैव जिनका गुणगीत गाता।।२९।।

अर्थ– हे विशिष्टपूज्य ! हे गतिशील ! हे स्वामिन् ! जिनेन्द्र ! जिस प्रकार पृथ्वी पर नायक – मध्यमणि से हार सुशोभित होता है ओर विनायक–गणधर से तीर्थंकर की दिव्यवाणी शोभायमान होती है उसी प्रकार गणधर में लीन मनुष्य भी संवेग से शोभायमान होवे।।२९।।

मुनितात्मनि शान्तेन स्थितेनं च निशेशेन निशान्ते न।
विरवोऽपि निशान्ते नः सत्कवेः कविता निशान्तेन।।

हे नः ! आत्मनि स्थितेन अन्तेन शान्तेन मुनिता, निशेशेन निशा
शान्तेन सत्कवेः कविता, च निशान्ते विरवः अपि (प्रभातु)।

बोले विहंगम, उषा मन को लुभाती,
शोभावती वह निशा शशि से दिखाती।
हो पूर्ण शान्तरस से कविता कहाती,
शुद्धात्म में मुनि रहे मुनिता सुहाती।।३०।।

अर्थ– हे जिनेन्द्र ! आत्मा में स्थित शान्त धर्म से जिस प्रकार मुनिता (मुनिपद) सुशोभित होती है, चन्द्रमा से जिस प्रकार रात्रि सुशोभित होती है, शान्त रस से जिस प्रकार सुकवि की कविता सुशोभित होती है और प्रातःकाल से जिस प्रकार पक्षियों का कलरव सुशोभित होता है, उसी प्रकार संवेग से मुनि सुशोभित हो।।३०।।

भवोरुवनधनंजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः।
ततो निजं धनं जय ह्ययं करणभेकधनंजयः।।

अयं (संवेगः) करणभेकधनंजयः कर्मकौरवगर्वान्तधनंजयः
भवोरुवनधनंजयः (अस्ति) ततः निजं धनं हि (त्वं) जय।

ज्यों मारता सहज अर्जुन कौरवों को,
संवेग त्यों दुरति कर्म अरातियों को।
दावा यथा सघन कानन को जलाता,
संसाररूप वन को यह भी मिटाता।।
ज्यों नाग नाम सुन मेंढक भाग जाता,
त्यों ही कषाय इसके नहिं पास आता।
ऐसी विशेष महिमा इसकी सुनी रे !
संवेगरूप घन पा बन जा धनी रे !।।३१।।

अर्थ– यह संवेग इन्द्रियरूप मेंढकों को नष्ट करने लिये धनंजय–नाग है, कर्मरूपी कौरवों के गर्व को नष्ट करने के लिये धनंजय–अर्जुन है और संसाररूपी वन को भस्म करने के लिये धनंजय–अग्नि है इसलिये आत्मधनस्वरूप संवेगभाव जयवंत हो।।३१।।

संसारदेहभोगेभ्यो भीतिर्भवति सतां परा।
यत् सा सदेह भोऽघेभ्यो हीतिर्भवेऽमिता खरा।।

भो संसारदेहभोगेभ्यः सतां परा भीतिः भवेत् यत् इह भवे
सदा अघेभ्यो अमिता खरा सा ईतिः (भवेत्)।

संसार से स्वतन से जड़ भोग से वे,
होते निरीह बुध हैं इनको न सेवें।
पीड़ा अतीव इनसे दिन रैन होती,
शीघ्रातिशीघ्र बुझती निजबोध ज्योति।।३४।।

अर्थ– हे भगवन् ! संसार, शरीर और भोगों से सत्पुरूषों को सदा भय रहे, जिससे इस संसार में पापों से वह अपरिमित एवं सातिशय ईति–पीड़ा हो, पापों से पलायन हो।।३४।।

ज्वलतात्र शङ्करेण ह्यनाधृतोऽतोऽशङ्करेण।
जगत् सुखि शङ्करेण त्रिशूलमहताऽशङ्करेण।।

हे अशङ्क ! अत्र रेण ज्वलता शङ्करेण त्यागः हि अनाधृतः अतः
त्रिशूलमहताऽशङ्करेण शंकरेण जगत् सुखि? (कदापि नेत्यर्थः)

कामाग्नि से जल रहा यदि पूर्ण रागी,
धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी।
तो विश्व का अमित दुःख त्रिशूलधारी,
कैसे मिटाकर, बने स्वपरोपकारी ?।।३५।।

अर्थ– हे अशंक ! इस जगत् में कामाग्नि से जलते हुये शिव ने त्यागधर्म का अनादर किया इसलिये त्रिशूलधारी और हिंसाकारी शङ्कर से जगत् सुखी है क्या? अर्थात् नहीं है।।३५।।

विदधानमामोदकं नासां कुसुममिव रसनां मोदकम्।
मोदयतु या मोदकं तृषितमिह नुतसमामोदकम्।।

हे नुतसम ! हे अम ! इह नासां आमोदकं विदधानं कुसुमं रसनां
मोदकं तृषितं मोदकं उदकं इव (अयं त्यागधर्मः) मा (मां) मोदयतु।

ले क्षीर स्वाद रसना अति मोद पाती,
पा फूल फूल-सम नासिक फूल जाती।
संतुष्ट ओ तृषित शीतल नीर से हो,
मेरा सुतृप्त मन तो अघत्याग से हो।।३६।।

अर्थ– हे नुतराम ! सबके द्वारा स्तुत ! हे अम ! हे बन्धन से रहित ! जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प नासिका को, लड्डू रसना को और पानी प्यासे मनुष्य को प्रमुदित करता है उसी प्रकार यह त्यागधर्म मुझे प्रमुदित करे।।३६।।

मोदेऽमुनाहमधुना नासानन्दनेनेवाम्रमधुना।
लता कोकिलो मधुना नन्दनो जननीस्तनमधुना।।

नासानन्दनेन आम्रमधुना कोकिलः, जननीस्तनमधुना नन्दनः,
मधुना लता इव, अहं अधुना अमुना (त्यागधर्मेण) मोदे।

संतुष्ट बाल जननीस्तनपान से हो,
फूले लता ललित लो ! जलस्नान से हो।
हो तुष्ट आम्रकलिका लख कोकिला वे,
मेरा कषाय तज के मन मोद पावे।।३७।।

अर्थ– जिस प्रकार घ्राण को आनन्द देने वाले आम के मकरन्द से कोयल, माँ के स्तन से निकले दूध से बालक और जल से लता प्रसन्न होती है उसी प्रकार मैं इस समय इस त्यागधर्म से प्रसन्न हो रहा हूँ।।३७।।

शमयति नान्नं वसुकं ह्यतिधृतयुतमपि गतमधिकं वसुकम्।
तथा भवक्षुद्वसुकं श्रुतोनो यियासो स्ववसुकम्।।

अधिकं वसुंक गतं अतिधृतयुतं अपि वसुकं अन्नं (यथा) क्षुधां न शमयति तथा स्ववसुकं यियासो ! श्रुतोनः (शास्त्रविरुद्धत्यागः) भवक्षुद्वसुकं न शमयति।

शास्त्रानुसार यदि त्याग नहीं बना है,
लो ! दुःख ही न मिटता उससे अहो है।
जो अन्नसार रस से अति ही भरा है,
भाई कभी न मिटती उससे क्षुधा है।।३८।।

अर्थ– जिस प्रकार अधिक नमक और अधिक घी से युक्त होने पर भी अन्न क्षुधा को शान्त नहीं करता है उसी प्रकार हे आत्मधन को प्राप्त करने के इच्छुक साधो! शास्त्रविरुद्ध त्याग भी संसार की भूखरूप अग्नि को शान्त नहीं करता है।।३८।।

समुदिता सह साधुना समता-श्रीर्नेन वचसा साधुना।
मया वसिता साधुना साधुनाऽसाधुना साऽधुना।।

साधुना (वृद्धेन) नेन साधुना वचसा सह समताश्रीः समुदिता (किन्तु)
साधुना (मुनिना) असाधुना (यूना) साधुना (सुन्दरेण) मया सा अधुना अवसिता।

क्या साधु से सुबुध से ऋषि से यमी से,
भाई ! प्रशंसित रही समता सभी से।
सौभाग्य है मम घड़ी शुभ आ गई है,
सर्वांग में सुसमता सुसमा गई है।।३९।।

अर्थ– साधु–वृद्ध जिनेन्द्र और साधु–श्रुति मधुर अथवा पूर्वापर विरोध से रहित वचन के साथ समतारूपी लक्ष्मी प्रकट हुई थी परन्तु मुझ युवा साधु के द्वारा वह समतारूपी लक्ष्मी इस समय अवसित–मोहित हो रही है।।३९।।

सत्यस्मिन्नेव संत्याग आलोको भास्करे यथा।
सत्यं मुने ह्यसङ्गाङ्ग व्यलोलं भातु रे ! तथा।।

हे ! अंग असंग मुने ! यथा भास्करे सति आलोकः भातु तथा
अस्मिन् सत्याग सति हि सत्यं व्यलोलं भातु।

मैं वीतराग बन के मन रोकता हूँ,
तो सत्य तथ्य निजरूप विलोकता हूँ।
आलोक हो अरुण ओ जब जन्म लेता,
अज्ञात को नयन भी झट देख लेता।।४०।।

अर्थ– अंग असंग मुने ! जिस प्रकार सूर्य के रहते प्रकाश सुशोभित रहता है, उसी प्रकार इस त्यागधर्म के रहते हुए सत्यधर्म निश्चय से अत्यन्त स्थिर सुशोभित रहे।।४०।।

स्थितिर्निजात्मनि काये तपो न मुनेः क्षणान्तात्मनि काये।
रता वदन्ति निकायेऽन्यथा त्विति व्यथा मुनिका ये।।

क्षणान्तात्मनि काये स्थितिः मुनः तपः न (किन्तु) काये निजात्मनि स्थितिः तपः,
अन्यथा तु व्यथा (भवेत्) इति निकाये ये रता मुनिकाः वदन्ति।

शुद्धात्म में स्थिति सही तप ही वही हो,
तो नश्यमान तन में रुचि भी नहीं हो।
ऐसा न हो सुख नहीं दुख ही अतीव,
हैं वीतराग गुरु यों कहते सदीव।।४१।।

अर्थ– 'क्षणभंगुर शरीर में स्थित रहना–उसमें ममत्व रखना मुनि का तप नहीं है किन्तु निजात्मा में रहना तप है, अन्यथा पीड़ा होती है' ऐसा निकाय–स्वभाव में स्थित मुनि कहते हैं।।४१।।

तापसोऽतो विनाऽशं तपनतापतापिततनुर्विनाशम्।
उद्गच्छतु भुवि ना शं विहाय विना शम्।।

अतः तपनतापतापिततनुः तापसः अश बिना विनाशं उद्गच्छतु
भुवि नाशं विहाय विलम्बेन बिना शं (उद्गच्छतु)

आतापनादि तप से तन को तपाया,
योगी बना, बिन दया निज को न पाया।
पाया नहीं सुख कभी बहु दुःख पाया,
होता अहिंसक सुखीजिनदेव गाया।।४२।।

अर्थ – अतः सूर्य के संताप से संतापित है शरीर जिसका ऐसा साधु दया के बिना विनाश को प्राप्त हो, पृथिवी पर मानव हिंसा को छोड़कर विलम्ब के बिना – शीघ्र ही धर्म कल्याण को प्राप्त हो।।४२।।

न याति लुञ्चिताङ्गजं परीषहजयिनं श्रीः कलिताङ्गजम्।
वहन्तमविभुताङ्गजं सतां स्तुतिंगताऽजिताङ्गजम।।

सतां स्तुतिंगत ! अविभुताङ्गजं वहन्तं लुंञ्चिताङ्गजं कलिताङ्गजं
परीषहजयिनं अजिताङ्गजं श्रीः न याति।

दीखे परीषहजयी वह देखने में,
है लीन यद्यपि महाव्रत पालने में।
लक्ष्मी उसे तदपि है वरती न स्वामी,
जो मूढ़ है विषय लम्पट भूरिकामी।।४३।।

अर्थ– हे साधुस्तुत्य ! जो अविभुता रूप अङ्गज–रोग को धारण कर रहा है, जिसने अंगज–केशों का लोंच किया है, जो अंगज–पसीना को धारण किये हुए है, जो परीषहों को जीतने वाला है किन्तु अंगज–काम को जिसने नहीं जीता है ऐसे साधु को बहिरंग एवं अन्तरंग लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती।।४३।।

सतेति किं न वा सितं नैत्ययो रसाद्धेमतां वासितम्।
उपधिना न नु वासितं तपसोऽपि च सिततां वासितम्।।

वासितं अयः रसात् हेमतां न एति। उपधिना सितं वासितं अपि तपसः सिततां न एति, इति सता किं न नु सितं ? सितमित्यर्थः। वा वा समुच्चये।

लोहा सुवेष्ठित रहे यदि वस्त्र से जो,
होगा नहीं कनक पारस संग से ओ।
तो संग के सहित जो तप भी करेंगे,
ना आत्म को परम पूत बना सकेंगे।।४४।।

अर्थ – वस्त्र से वेष्टित लोहा रसायन से सुवर्णता को प्राप्त नहीं होता और परिग्रह से बद्ध–सहित ज्ञान तप की उज्ज्वलता को प्राप्त नहीं होता, ऐसा क्या साधू ने नहीं जाना? ।।४४।।

यथा दहति सदागतिप्रेरितो वनजो वनं सदागतिः।
विधिततिमिति सदागतिः सदागतिष्वाह सदा गतिः।।

सदागतिप्रेरितः वनजः सदागतिः यथा वनं दहति तथा (तपः) विधिततिं (दहति) इति सदागतिषु सदागतिः सदागतिः आह।

दावा यथा वनज हो वन को जलाता,
भाई तथा तप सही तन को जलाता।
सम्यक्त्व पूर्ण तप की महिमा यही है,
देवाधिदेव जिन ने जग को कही है।।४५।।

अर्थ – जिस प्रकार सदागति–वायु से प्रेरित वन की सदागति–अग्नि वन को जला देती है, उसी प्रकार तप कर्मसमूह को जला देता है–इस प्रकार सदागति–मुनियों में सदागति–ईश्वर स्वरूप सदागति–मुनि ने कहा है।।४५।।

दृशान्वितं विदो युक्तं सत् तपो गीयते ह्यतः।
आशातीतं ह्यदो व्यक्तं पूतधीर्गीर्यते सतः।।

उ! पूतधीः! यतो! दृशान्वितं विदा युक्तं हि अतः आशातीतं
व्यक्तं हि अदः सत् तपः गीयते इति सतः गीः।

आशा निवास जिसमें करती नहीं है,
सम्यक्त्वबोध युत जो तप ही सही है।
ऐसा सदैव कहती प्रभु सन्त वाणी,
तृष्णा मिटे, झटिति पी अति शीत पानी।।४६।।

अर्थ – हे पवित्र बुद्धि से युक्त जो सम्यग्दर्शन से राहित है, सम्पग्ज्ञान से युक्त है और इसीलिये जो आशातीत–तृष्णा से परे है, सुव्यक्त है, वही उत्तम तप कहलाता है, ऐसी साधु की वाणी है।।४६।।

साधोः समाधिकरणं सुखकरं गुणानामाधिकरणम्।
न कृतागमाधिकरणं करणोन ! नु कामाधिकरणम्।।

हे कृतागम करणोन ! सुखकरं गुणानाम् आधिकरणं कामाधिकरणं,
न आधिकरणं च नु साधोः समाधिकरणं (अरित)।

साधू समाधि करना भव मुक्त होना,
पा कीर्ति पूजन गुणी बन दुःख खोना।
ऐसा जिनेश कहते शिवमार्गनेता,
वेत्ता बने जगत के मन अक्ष जेता।।४७।।

अर्थ– हे कृतागम ! आगम के रचयिता ! हे करणोन ! इन्द्रियविषयों से रहित! जो सुखकारी है, गुणों का आधार है, काम–मनोरथों का पूरक है और मानसिकव्यथा को करने वाला नहीं है वही साधु का समाधिकरण है–साधुरासाधि नामक भावना है।।४७।।